प्र015. भारत में जनसंख्या–वृद्धि के प्रमुख कारणों की विवेचना कीजिए?

उत्तर– भारत में जनसंख्या की समस्या अनेक दशाओं का संयुक्त परिणाम है। इनमें से कुछ प्रमुख दशाओं के सन्दर्भ में जनसंख्या–वृद्धि के कारणों को निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है:–

(1) **बाल विवाहों का प्रचलन**–अधिकश हिन्दू धर्म शास्त्र व्यक्ति को यह विश्वास दिलाते है कि पुत्र अथवा पुत्री का विवाह कम आयु में करना ही उचित है। इसके फलस्वरूप एक धार्मिक और सामाजिक परम्परा के रूप में आज भी अधिकांश व्यक्ति अपनी सन्तानों का विवाह बहुत कम आयु में ही कर देते हैं। ऐसा अनुमान है कि भारत के गाँवों में 29 प्रतिशत से भी अधिक विवाहों के समय लड़की की आयु 16 वर्ष से कम होती है। कम आयु में विवाह हो जाने के कारण एक औसत दम्पत्ति को बच्चों के जन्म के लिए लगभग 20 वर्ष की लम्बी अवधि मिल जाती है। इतनी अवधि में अधिक बच्चों के जन्म की सम्भावना रहने के कारण जनसंख्या में अधिक वृद्धि हो जाना बहुत स्वाभाविक है।

(2) **गर्म जलवायु**– जैविकीय दृष्टिकोण से उन देशों में जन्म दर अधिक होती है जहाँ की जलवायु गर्म होती है। ग्रामीण क्षेत्रों में जहाँ लोगों का जीवन प्रत्यक्ष रूप से प्राकृतिक दशाओं द्वारा प्रभावित होता है, वहाँ गर्म जलवायु के कारण अधिक सन्तानों का जन्म होना स्वाभाविक घटना है।

(3) **पुत्र–जन्म का महत्व**– अधिकांश हिन्दू यह विश्वास करते हैं कि धार्मिक कर्तव्यों को पूरा करने तथा पूर्वजों को पिण्डदान देने के लिए कम से कम पुत्र का होना आवश्यक है। ऐसे विश्वासों के कारण यदि आरम्भिक सन्तानों का जन्म पुत्रियों के रूप में हो जाता है। तो पुत्र की कामना के कारण परिवार के आकारों में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। वैसे भी परम्परागत मनोवृत्तियों के कारण अधिकांश माता–पिता पुत्र को जन्म को अधिक महत्व देते हैं।

(4) **विवाह की अनिवार्यता**– हिन्दुओं में मोक्ष–प्राप्ति के लिए विवाह को एक अनिवार्य धार्मिक संस्कार के रूप में देखा जाता है। परम्परागत मूल्य भी यह विश्वास दिलाते हैं कि व्यक्ति जब तक विवाह न कर ले, उसे समाज में कोई प्रस्थिति तथा अधिकार प्राप्त नहीं हो सकते। इसी का परिणाम है कि अनेक विकासशील देशों में जहाँ जनसंख्या का एक बड़ा भाग अविवाहित रहकर जीवन व्यतीत करने में कोई हानि नहीं समझना, वहीं भारत में ऐसे व्यक्तियों की संख्या बिल्कुल नगण्य जो आजीवन अविवाहित रहते हैं। धार्मिक विश्वासों के कारण भिखारी, अपंग और संक्रामक रोगों से ग्रस्त व्यक्ति भी किसी न किसी तरह विवाह करके सन्तान को जन्म देने का प्रयत्न करते हैं।

(5) **बहुपत्नी विवाह**– भारत मे सन् 1955 के पहले तक कुलीन और समृद्ध परिवारों के बहुत–से व्यक्ति एक से अधिक पत्नियों को रखना सामाजिक प्रतिष्ठा का विषय समझते थे। आज हिन्दुओं में यद्यपि कानून के द्वारा बहुपत्नी विवाह को समाप्त कर दिया गया है लेकिन भारत के 13 करोड़ से भी अधिक मुसलमानों में बहुपत्नी विवाह पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। जनजातियों में भी बहुपत्नी विवाह का प्रचलन बना हुआ है। इससे भी जनसंख्या में अनावश्यक रूप से वृद्धि होने की सम्भावना रहती है।

(6) **संयुक्त परिवार व्यवस्था**– नगरों में आज संयुक्त परिवारों की संख्या में कुछ कमी अवश्य होने लगी है लेकिन गाँवों में संयुक्त परिवारों को अभी भी एक उपयोगी व्यवस्था के रूप में देखा जाता है। ऐसे परिवारों में बच्चों के पालन–पोषण का भार केवल माता–पिता पर ही न होकर सम्पूर्ण परिवार पर होता है। इसके फलस्वरूप अधिक बच्चों को न तो अवांछित समझा जाता है और न ही उनके पालन–पोषण में आर्थिक कठिनाई अनुभव की जाती है। इस प्रवृति के कारण भी जनसंख्या–वृद्धि पर कोई प्रभावपूर्ण नियन्त्रण नहीं रह पाता।

(7) **अशिक्षा**– संसार के विभिन्न समाजों के अध्ययन से यह स्पष्ट हुआ है कि शिक्षित समाजों की तुलना में अशिक्षित समाजों में जनसंख्या–वृद्धि की दर कहीं अधिक होती है। भारत में व्यापक प्रयत्न करने के बाद सन् 2001 तक केवल 65 प्रतिशत लोग ही साक्षर हो सके हैं। दसवीं कक्षा पास या इससे अधिक शिक्षित लोगों की कुल संख्या आज भी 30 प्रतिशत से अधिक नहीं हैं। इस व्यापक अशिक्षा के कारण अधिकांश व्यक्ति न तो अधिक सन्तानों की हानि को समझ पाते हैं और न ही परिवार नियोजन सम्बन्धी कार्यकमों के प्रति जागरूक रहते हैं।

(8) **निम्न जीवन स्तर**– भारत की 80 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या का जीवन–स्तर बहुत निम्न है। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि आज हमारे देश की जनसंख्या का लगभग 40 प्रतिशत भाग ऐसा है जो निर्धनता की सीमा रेखा से नीचे रहकर जीवन व्यतीत कर रहा है। अपर्याप्त पोषण तथा स्वच्छता के नियमों की जानकारी न होने के कारण लोगों के स्वास्थ्य का स्तर भी बहुत निम्न है। जैविक परीक्षणों से यह स्पष्ट हो चुका है कि एक स्वस्थ व्यक्ति की तुलना में अस्वस्थ व्यक्ति अधिक सन्तानों को जन्म देता है यद्यपि ऐसी सन्तानें शारीरिक तथा मानसिक रूप से बहुत दुर्बल होती हैं। निम्न जीवन स्तर के अधिकांश लोगों को मनोरंजन के साधन उपलब्ध न हो सकने के कारण उनके लिए यौनिक सुख ही मनोरंजन का एकमात्र साधन रह जाता है। इसके फलस्वरूप भी जनसंख्या–वृद्धि की समस्या गम्भीर होती जा रही है।

(9) **भाग्यवादी विश्वास**– भारत की अधिकांश जनता आज भी सन्तान को ईश्वर की देन मानती है और इस कारण अधिक सन्तानों के जन्म को किसी समस्या के रूप में नहीं देखा जाता। हमारे समाज में ऐसे विश्वास आज भी बहुत प्रबल हैं कि "जिस ईश्वर ने सन्तान को जन्म दिया है, वही उसका भरण–पोषण भी करेगा" आदि। आर्थिक कठिनाइयों के कारण निर्धन माता–पिता अधिक सन्तानों के जन्म को इसलिए अच्छा समझते हैं कि बच्चे बड़े होने पर श्रम करके परिवार

की आर्थिक समस्याओं को दूर करने में सहायक होंगे। ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक बच्चों को खेती के लिए उपायोगी इकाई के रूप में देखा जाता है।

(10) **जन्म और मृत्यु–दर का असन्तुलन**– हमारे देश में स्वतन्त्रता के पश्चात् जन्म–दर में कोई विशेष कमी नही हुई यद्यपि मृत्यु–दर में पहले की अपेक्षा काफी कमी हो गयी। महामारियों तथा अकाल की घटनाओं में बहुत कमी हो जाने और चिकित्सा की सुविधाओं में वृद्धि हो जाने के कारण औसत जीवन–अवधि में काफी सुधार हुआ है। यह सच है कि मृत्यु–दर में कमी होना प्रगति का लक्षण है लेकिन इसके अनुपात में जन्म–दर कम न हो सकने के कारण भारत में जनसंख्या की समस्या उत्पन्न हुई है।

(11) **परिवार नियोजन के प्रति उदासीनता**– विभिन्न अध्ययनों का सामान्य निष्कर्ष यह है कि भारत में 22 वर्ष से 40 वर्ष की आयु वाले केवल 14 प्रतिशत दम्पत्ति परिवार नियोजन के प्रति पूरी तरह जागरूक हैं। 31 प्रतिशत दम्पत्ति 2 बच्चों को जन्म के बाद परिवार नियोजन के साधनों का उपयोग शुरू करते हैं। 27 प्रतिशत दम्पत्तियों द्वारा कुछ विशेष दशाओं में परिवार नियोजन की सुविधाओं का लाभ उठायाा जाता है, जबकि शेष 28 प्रतिशत दम्पत्ति परिवार नियोजन के विरोधी हैं।

(12) **प्रभावपूर्ण जनसंख्या–नीति की कमी**– भारत में जनसंख्या–वृद्धि को कम करने के लिए अनेक बार सरकार द्वारा नीतियों की घोषणा की गयी लेकिन किसी भी नीति को प्रभावी ढंग से लागू नहीं किया जा सका। नियम बहुत बने लेकिन उनका परिपालन नहीं हुआ। समय के साथ बदलने वाले नारों में ही जनसंख्या कम होती रही। शुरू में नारा था "दो होते हैं सही–सही, तीन से ज्यादा कभी नहीं" नारा आगे बढ़ा "हम दो हमारे दो" और आज हमारा नारा है कि "राष्ट्र एक सन्तान एक"। कभी ऐसी जनसंख्या नीति नहीं बनी जिसे चीन

की तरह देश के सभी वर्गो और समुदायों पर प्रभावी ढंग से लागू किया गया हो।

जनसंख्या–वृद्धि के सामाजिक–आर्थिक प्रभाव– भारत में जनसंख्या के विशाल आकार, जनसंख्या वृद्धि की वर्तमान दर तथा ग्रामीण जनसंख्या द्वारा नगरों की प्रवास करने की प्रवृति ने यहाँ अनेक गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न की हैं। भारतीय समाज में जनसंख्या वृद्धि से पैदा होने वाली समस्याओं अथवा इसके प्रभावों को विभिन्न क्षेत्रों में निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है:–

1. **आर्थिक समस्याएँ**– आर्थिक विकास का जनसंख्या–वृद्धि से एक प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। भारत में अति–जनसंख्या के कारण अनेक आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं–(1) सर्वप्रथम, अधिक जनसंख्या के कारण आर्थिक नियोजन से वांछित सफलताएँ नहीं मिल पातीं। कोई योजना जितनी जनसंख्या की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बनायी जाती है, वह जनसंख्या–वृद्धि के कारण कुछ ही समय में असफल होने लगती हैं। (2) जनसंख्या के अनुपात में रोजगार के अवसरों में वृद्धि न हो सकने से हमारे देश में बेरोजगारी एक गम्भीर समस्या बन गयी है। (3) ऐसा अनुमान है कि भारत में आज लगभग 39 प्रतिशत जनसंख्या निर्धनता की सीमा रेखा के नीचे है। इन व्यक्तियों को इतनी भी सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हो पातीं कि वे अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा कर सकें। फलस्वरूप अधिकांश व्यक्तियों का जीवन–स्तर निम्न बना हुआ है। (4) जनसंख्या–वृद्धि के फलस्वरूप योजनाएँ समुचित रूप से लागू नहीं हो पातीं। इससे आर्थिक विषमताएँ बढ़ने लगीं। (5) व्यक्तियों को समुचित रोजगार न मिल पाने से जनसंख्या का एक बड़ भाग अनुत्पादक श्रम में लगा हुआ है। (6) निर्धनता और निम्न जीवन–स्तर के फलस्वरूप व्यक्तियों में बचत की क्षता बहुत कम है। इसका उद्योगों के विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। (7) अधिक जनसंख्या होने से श्रम की माँग की तुलना में श्रम पूर्ति अधिक हो जाती है। फलस्वरूप श्रमिकों को कम मजदूरी मिलने लगती है। यह लोगों के आर्थिक

शोषण का एक मुख्य कारण है। (8) जनसंख्या–वृद्धि से गाँवों में भूमि का छोटे–छोटे टुकड़ों में विभाजन होना आरम्भ हुआ। फलस्वरूप कृषि उत्पादन में आशा के अनुरूप वृद्धि नहीं हो सकी।

2- **सामाजिक समस्याएँ**– भारत में जनसंख्या वृद्धि के कारण अनेक सामाजिक समस्याओं में भी वृद्धि हुई है– (1) सर्वप्रथम, जनसंख्या–वृद्धि के फलस्वरूप देश का एक बड़ा अशिक्षित बना हुआ है। भारत के पास इतने अधिक आर्थिक साधन उपलब्ध नहीं है। कि सम्पूर्ण जनसंख्या को शिक्षित किया जा सके। केवल साक्षरता देश के विकास की कसौटी नहीं है। अशिक्षा के कारण लोग न तो जनसंख्या–वृद्धि की हानियों को समझ पाते हैं और न ही सामुदायिक कार्यक्रमों में सहभाग करने के योग्य बन पाते हैं। (2) भारत में बढ़ते हुए अपराध, जैसे– लूट–पाट, हत्या, तस्करी, गबन और धोखाधड़ी जनसंख्या–वृद्धि का ही परिणाम हैं। जीविका उपार्जित करने के समुचित अवसर न मिल पाने से लोग समाज–विरोधी कार्य करने लगते हैं। (3) नगरों में आवस की बढ़ती हुई समस्या और मलिन बस्तियों की समस्या जनसंख्या–वृद्धि का ही परिणाम है। इन बस्तियों का सामाजिक–आर्थिक जीवन पूरे समाज के लिए एक बड़ा अभिशाप है। (4) भारतीय समाज में नैतिक पतन के लिए भी जनसख्या वृद्धि काफी सीमा तक उत्तरदायी है। साधनों के अभाव में व्यक्ति अनैतिक जीवन के द्वारा आजीविका उपार्जित करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। (5) भारत में बढ़ती हुई युवा अति सक्रियता पूरे समाज के लिए एक गम्भीर चुनौती है। इसका मुख्य कारण जनसंख्या–वृद्धि के करण युवकों को शिक्षा और रोजगार के पर्याप्त अवसर उपलब्ध न हो पाना है। इस समस्या ने वैयक्तिक और सामाजिक जीवन का विघटित किया है।

3- **परिवारिक समस्याएँ**– भारत में जनसंख्या–वृद्धि का एक बड़ा दुष्प्रभाव स्वास्थ्य और पोषण के क्षेत्र में देखने को मिलता है। पंचवर्षीय योजनाओं में स्वास्थ्य और पोषण के लिए बहुत बड़ी राशि व्यय करने के बाद भी बढ़ी हुई जनसंख्या को

चिकित्सा और पौष्टिक आहार की सुविधाएँ नहीं मिल पातीं। आज ग्रामीण क्षेत्रों में एक लाख से भी अधिक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों और उपकेन्द्रों को स्थापित किया गया है। इसके बाद लोगों के स्वास्थ्य का सामान्य स्तर बहुत निम्न बना हुआ। आज भी जन्म के समय लाखों बच्चों की मृत्यु हो जाती है। स्त्रियों को मातृत्व के काल में समुचित सुविधाएँ नहीं मिल पातीं। सामान्य चिकित्सा के लिए निर्धन ग्रामीणों को अपने गाँव से काफी दूर जाना पड़ता है। इसी के फलस्वरूप गाँवों में झाड़–फूँक और अन्धविश्वासों को प्रोत्साहन मिलता है।

4- **नागरिक समस्याएँ**– नगरीय जीवन से सम्बन्धित अधिकांश समस्याएँ आज प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जनसंख्या–वृद्धि का ही परिणाम है। भारत में सभी नगरों के क्षेत्र का विस्तार होने के कारण आज नगरीय जीवन समस्याग्रस्त होता जा रहा है। जनसंख्या की तीव्र वृद्धि के कारण गाँव से जो लोग नगरों में आकर विभिन्न प्रकार का शारीरिक श्रम करते हैं, उनमें से अधिकांश लोगों को रहने के लिए झोंपड़ी भी नहीं मिल पाती। ऐसा अनुमान है कि केवल मुम्बई, कोलकाता, दिल्ली और चेन्नई(मद्रास) में लगभग 7 लाख लोग ऐसे हैं जो रात में फुटपाथ पर सोकर जीवन व्यतीत करते हैं। बढ़ती हुई भीड़ ने पीने के पानी और बिजली का संकट पैदा कर दिया है। नागरिक सुविधाओं की तेजी से कमी होती जा रही है। सड़कों और बस्तियों में होने वाला अतिक्रमण प्रशासन के सामने एक बड़ा संकट बन चुका है। प्रदूषण के कारण नगर के अधिकांश लोगों का जीवन रोगग्रस्त बनने लगा है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि भारत में जनसंख्या–वृद्धि ने वैयक्तिक, पारिवारिक तथा सामुदायिक जीवन में अनेक समस्याएँ उत्पन्न करके एक विघटनकारी दशा को प्रोत्साहन दिया है।

प्र016– ऐतिहासिक रूप से भारतीय समाज संस्कृति प्रतिमानों की विविधताओं का देश रहा है?

उत्तर– धार्मिक विश्वासों तथा आचरणों के अनुसार की प्रत्येक समाज के कुछ विशेष सांस्कृतिक प्रतिमानों का विकास होता है। यह सच है कि सांस्कति प्रतिमानों का सम्बन्ध सभी तरह के सीखे हुए व्यवहारों से है लेकिन भारतीय के सन्दर्भ में विभिन्न समुदायों में पाये जाने वाले क्षेत्रीय उत्सव एवं त्यौहार, वैवाहिक परम्पराएँ, नातेदारी व्यवस्था, सामाजिक मूल्य, एक विशेष जीवन–शैली, वेश–भूषा, खान–पान तथा संगीत और नृत्य आदि यहाँ की सांस्कृतिक विविधताओं को स्पष्ट करने के दृष्टिकोण से विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। **एस.सी.दुबे** ने भी भारत के ग्रामीण जीवन का अध्ययन करके यहाँ की सांस्कृतिक विविधताओं को छः मुख्य भागों में विभाजित किया है। ये हैं–

1. शास्त्रीय रीति–रिवाज, 2. क्षेत्रीय रीति रिवाज, 3. स्थानीय परम्पराएँ, 4. पश्चिमी रीति–रिवाज, 5. नवोदित राष्ट्रीय रीति–रिवाज, 6. विभिन्न समूहों की उप–सांस्कृतिक परम्पराएँ।

शास्त्रीय, क्षेत्रीय तथा स्थानीय रीति–रिवाजों की भिन्नता के आधार पर मैकिम मैरिएट ने अपनी पुस्तक 'विलेज इण्डिया' में भारत के सांस्कृतिक प्रतिमानों की भिन्नता को दो मुख्य प्रक्रियाओं में विभाजित करके स्पष्ट किया है। इन्हें मैरिएट ने स्थानीकरण तथा सर्वव्यापीकरण की प्रक्रिया कहा है। **रॉबर्ट रेडफील्ड** ने भी भारत की परम्पराओं को लघु परम्परा तथा वृहत परम्परा में विभाजित करके भारत में सांस्कृतिक प्रतिमानों की भिन्नता को स्पष्ट किया है। इन सभी भिन्नताओं को निम्नांकित रूप से स्पष्ट करके भारत में सांस्कृतिक प्रतिमानों की भिन्नता को समझा जा सकता है:–

(1) क्षेत्रीय उत्सव एवं त्यौहार– सभी समुदायों में विभिन्न उत्सवों और त्यौहारों का आयोजन उनके धर्मग्रन्थों में दिये गये वृत्तान्तों के आधार पर होता है। भारतीय समाज में धार्मिक विभिन्नता के साथ क्षेत्रीय विश्वासों की भिन्नता के

कारण ही उत्सवों और त्यौहारों में काफी भिन्नता देखने को मिलती है। प्रत्येक धार्मिक समुदाय द्वारा जिन त्यौहारों और उत्सवों को मनाया जाता है, उनमें से कुछ का सम्बन्ध उनकी वृहत परम्पराओं से होता है, जबकि अनेक और त्यौहार इस प्राकर के होते हैं जो स्थानीय अथवा क्षेत्रीय विश्वासों के आधार पर विकसित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, हिन्दुओं में दीपावली, दशहरा, होली, रामनवमी, जन्माष्टमी तथा शिवरात्रि आदि ऐसे त्यौहार हैं जिनका उल्लेख हिन्दुओं के प्राचीन धर्मग्रन्थों में है। इसी कारण इन्हें भारत के सभी क्षेत्रों में, सभी जातियों और सभी वर्गो के लोगों द्वारा मनाया जाता है। यह वृहत परम्पराओं के उदाहरण हैं। मुसलमानों में ईद तथा ईसाइयों में क्रिसमस इसी तरह के त्यौहार हैं। सभी समुदायों में बहुत–से उत्सव और स्थानीय विश्वासों के आधार पर भी विकसित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, गाँवों में किसी विशेष वृक्ष के नीचे आयोजित होने वाले मेले, गाँव के बाहर स्थापित 'पथवारी देवी का उत्सव' अथवा किसी विशेष पीर या औलिया की मजार से सम्बन्धित उत्सव इस विशेषता को स्पष्ट करते हैं। डॉ. चौहान ने लिखा है कि राष्ट्रीय प्रकृति के उत्सावों और त्यौहार की प्रकृति में अधिक भिन्नता नहीं होती लेकिन स्थानीय और क्षेत्रीय उत्सवों का सम्बन्ध एक विशेष वर्ग के विश्वासों से होने के कारण इनमें बहुत अधिक विविधता पायी जाती है। इसी कारण स्थानीय उत्सवों और त्यौहारों की विविधता को भारत में लोक–जीवन की एक प्रमुख विशेषता के रूप में देखा जाता है।

(2) वैवाहिक परम्पराएँ– संसार के अनेक दूसरे देशों में जहाँ विवाह से जुड़ी हुई परम्पराओं में काफी समानता देखने को मिलती है, वहीं भारतीय समाज में वैवाहिक परम्पराओं की प्रकृति में भी काफी भिन्नता स्पष्ट होती है। हिन्दुओं में कानून के द्वारा एकविवाह का प्रचलन है लेकिन सांस्कृतिक रूप से विवाह को एक धार्मिक संस्कार और जीवन भर के स्थायी सम्बन्ध के रूप में देखा जाता है। मुसलमानों के सामाजिक नियम एक पुरूष को एक साथ चार पत्नियाँ तक रखने की अनुमति देते हैं तथा विवाह को एक सामाजिक समझौते के रूप में देखा

जाता है जिसे सामाजिक रूप से किसी भी समय तोड़ा जा सकता है। ईसाइयों में विवाह एक धार्मिक बन्धन होने के बाद भी यह एक मित्रतापूर्ण सम्बन्ध है। जनजातियों में एक ओर एकविवाह तथा बहुविवाह जैसी दोनों प्रथाओं का प्रचलन है, वहीं दूसरी ओर, उनमें बहुपत्नी विवाह के साथ बहुपति विवाह का भी प्रचलन है। नगरीय समाजों में विलम्ब विवाह को अधिक महत्व दिया जाता है,जबकि भारत के ग्रामीण समुदाय में आज भी बालविवाह को एक धार्मिक कृत्य के रूप में मान्यता मिली हुई है। इसके अतिरिक्त विभिन्न समुदायों और विभिन्न क्षेत्रों में विवाह से सम्बन्धित अनुष्ठानों तथा रीति–रिवाजों में भी बहुत भिन्नताएँ पायी जाती हैं। वास्तव में, वैवाहिक परम्पराओं के अनुसार ही परिवार की प्रकृति का निर्धारण होता है। यही कारण है कि वैवाहिक परम्पराओं की भिन्नता के फलस्वरूप भारत में संयुक्त, विस्तृत, केन्द्रक, मातृसत्तात्मक तथा पितृसत्तात्मक जैसी सभी परिवार व्यवस्थाएँ साथ–साथ प्रचलन में हैं।

(3) नातेदारी व्यवस्था– नातेदारी व्यवस्था एक विशेष सांस्कृतिक प्रतिमान है जिसका सम्बन्ध कुछ विशेष प्रकार के धार्मिक विश्वासों तथा सामाजिक मूल्यों से होता है। नातेदारी के नियम ही तय करते हैं कि रक्त तथा विवाह से जुड़े सम्बन्धियों में किसे अधिक महत्व दिया जायेगा, एक वंश के लोगों के बीच किस प्रकार के सम्बन्ध स्थापित होंगे, परिवार की सम्पत्ति के अधिकार का निर्धारण किस प्रकार होगा तथा विवाह से सम्बन्धित किन नियमों को अधिक महत्व दिया जायेगा। डॉ. इरावती कर्वे ने भारत में नातेदारी व्यवस्था की भिन्नता को स्पष्ट करने के लिए भारत को चार मुख्य भागों–उत्तरी क्षेत्र, मध्य क्षेत्र, दक्षिणी क्षेत्र तथा पूर्वी क्षेत्र में विभाजित करके यह स्पष्ट किया है कि नातेदारी व्यवस्था की भिन्नता के कारण की इन क्षेत्रों में सामाजिक संगठन की प्रकृति में काफी विविधता देखने को मिलती है।

(4) सामाजिक मूल्य– मूल्य एक तरह के सामाजिक मानदण्ड हैं जिनका हमारे लिए एक विशेष अर्थ होता है और जिन्हें अपने व्यवहारों के लिए महत्वपूर्ण

समझते हैं। सामाजिक मूल्य ही यह निर्धारित करते हैं कि कौन–से व्यवहार उचित हैं और कौन–से अनुचित। मूल्य ही हमें अच्छे और बुरे, पाप और पुण्य तथा समाज की प्रत्याशाओं से परिचित कराते हैं। सामाजिक मूल्यों को हम इस कारण एक विशेष सांस्कृतिक प्रतिमान कहते हैं कि इन्हीं के अनुसार व्यक्ति को अपने बचपन से विभिन्न प्रकार के व्यवहारों की सीख दी जाती है तथा इन्हीं के अनुसार व्यवहार करना व्यक्ति की आदत बन जाती है। सामाजिक मूल्यों के अनुसार ही प्रत्येक समुदाय की प्रथाओं , परम्पराओं, लोकचारों और संस्थाओं का विकास होता है। इन्हीं को 'सामाजिक मानदण्ड' अथवा 'सामाजिक प्रतिमान' कहते हैं। भारतीय समाज के सांस्कृतिक प्रतिमानों की भिन्नता यहाँ के विभिन्न लोकाचारों में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं। उदाहरण के लिए, हिन्दुओं के सामाजिक मूल्य जहाँ मांसाहार का निषेध करते हैं, वहीं बंगाल के हिन्दुओं में मछली के भोजन को पवित्र समझा जाता है। हिन्दुओं में अहिंसा एक प्रमुख सामाजिक मूल्य है, जबकि देश के अनेक दूसरे समुदायों में अहिंसा को सामाजिक मूल्य नहीं माना जाता। विभिन्न उत्सवों क आयोंजनों, परिवारिक परम्पराओं, अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों, नातेदारी तथा अनुष्ठानों की पूर्ति से सम्बन्धित लोकाचार भी विभिन्न क्षेत्रों तथा समूहों में एक दूसरे से काफी विभिन्न हैं। व्रतों और उपवासों की प्रकृति में भी एक स्पष्ट भिन्नता देखने को मिलती है।

(5) जीवन–शैली की भिन्नता– यदि भारतीय समाज में अलग–अलग समुदायों की जीवन–शैली को देखें तो उसमें काफी विभिन्नता देखने को मिलती है। हिन्दुओं, ईसाइयों, मुसलमानों, सिक्खों तथा पारसियों की वेशभूषा में इतना अन्तर है कि साधारणतया एक व्यक्ति के पहनावे को देखकर ही यह समझा जा सकता है कि वह किस धर्म को मानने वाला है। एक ही धर्म से सम्बन्धित विभिन्न क्षेत्रों की वेश–भूषा और व्यवहार के ढंगों में बहुत अन्तर देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए, उत्तर और दक्षिण भारत के हिन्दुओं और मुसलमानों की वेश–भूषा एक–दूसरे से काफी भिन्न है। यदि हम विभिन्न धार्मिक केन्द्रों में लोगों

की जीवन–शैली का अवलोकन करें तो उनकी वेश–भूषा और माथे पर लगाये जाने वाले तिलक से ही यह जाना जा सकता है कि व्यक्ति किस विशेष सम्प्रदाय अथवा पंथ को मानने वाला है। भाषा की भिन्नता भी जीवन–शैली को प्रभावित करने वाला एक प्रमुख आधार है।

भारतीय समाज में धार्मिक विश्वासों, आचरणों एवं सांस्कृतिक प्रतिमानों की भिन्नता से अनेक समस्याएँ भी पैदा होती रही हैं। इस सम्बन्ध में भाग्यवाद सम्बन्धी विश्वास वह प्रमुख आधार है जिसने सभी समुदायों के जीवन को प्रभावित किया है। भाग्य में विश्वास करने के कारण समाज में अन्याय, शोषण और भ्रष्टाचार के विरूद्ध आवाज उठाना लोग आवश्यक नहीं समझते। ऐसी सभी दशाओं को वे अपने भाग्य का परिणाम मान लेते हैं। इसी के फलस्वरूप समाज में इतने लम्बे समय तक छुआछूत जैसे अमानवीय व्यवहार को एक संस्था के रूप में देखा जाता रहा। इन समस्याओं से प्रभावित लोगों ने भी अपनी प्रस्थिति को पिछले जन्म के कर्मो और भाग्य का परिणाम मान लिया। धार्मिक विश्वास और सांस्कृतिक प्रतिमानों की भिन्नता क फलस्वरूप जहाँ उत्तर और दक्षिण का विवाद आरम्भ हुआ, वहीं जाति और धर्म पर आधारित संघर्षों में भी वृद्धि होने लगी। सहिष्णुता व्यक्ति और समाज के लिए जरूरी गुण है लेकिन आवश्यकता से अधिक सहनशील होना समाज के लिए घातक बन जाता है।

भारत के विभिन्न धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतिमानों ने व्यक्ति को इतना सहनशील बना दिया कि मानवीय अधिकारों और सामाजिक न्याय से लगातार वंचित होते रहे। धार्मिक विश्वासों की विभिन्नता के फलस्वरूप व्यक्ति अपनी जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र, जनजाति, नातेदारी और परिवार को इतना अधिक महत्व देने लगा कि वह राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यों के प्रति उदासीन हो गया। यही कारण है कि करों की चोरी करना, सार्वजनिक वस्तुओं और स्थानों का दुरूपयोग करना तथा राष्ट्रीय हितों को नुकसान पहुँचाकर स्वयं लाभ प्राप्त कर लेना सामान्य लोग बुरा नहीं समझते। धार्मिक और सांस्कृतिक रूप से यहाँ जिस

विशेष पितृसत्तात्मक व्यवस्था का विकास हुआ, उससे स्त्रियों का जीवन पुरूषों के अधीन बन गया तथा दूसरे दर्जे का व्यवहार किया जाने लगा।

यह सच है कि भारतीय समाज में ऐतिहासिक रूप से अनेक सांस्कृतिक और धार्मिक विभिन्नताएँ विद्यमान रही हैं लेकिन यदि हम विभिन्न स्वार्थ समूहों के भ्रामक प्रचार पर ध्यान न दें तो स्पष्ट है कि भारतीय सामज क परम्परागत सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक मूल्यों का अस्तिव आज भी किसी न किसी रूप में बना हुआ है। सभी प्रान्तों के लोग राम, कृष्ण, हनुमान, दुर्गा, लक्ष्मी और सरस्वती से सम्बन्धित त्यौहारों को पूरी रूचि के साथ मानते हैं। इस सम्बन्ध में डॉ. भगवानदास ने लिखा है कि भारत में सभी धर्मों के अनुयायी एक ईश्वर तथा उसकी शक्ति के रूप में किसी अवतार, पैगम्बर या मसीहा में विश्वास करते हैं। सभी धर्मों में व्रत, उपवास और तीर्थ–यात्राओं का विशेष महत्व है। सभी धर्म बुराई के बदले भलाई को अधिक महत्व देते हैं। ईश्वर और जीवात्मा के सम्बन्ध को सभी धर्म मानते हैं, इसका रूप चाहे एक–दूसरे से भिन्न क्यों न हो। सभी धर्मों के एक धार्मिक संस्तरण देखने को मिलता है। जिस दशा को हिन्दू संस्कृति में 'मुक्ति' कहा जाता है, उसे बौद्ध संस्कृति 'निर्माण' कहती है, जबकि इस्लाम में इसी को 'निजात' कहा जाता है। जीसस क्राइस्ट ने भी लिखा है कि ''अलौकिक सत्ता ने आज मुझे जन्म और मृत्यु के बन्धन से मुक्त कर दिया।'' पाप और पुण्य की अवधारणा सभी समुदायों की विशेषता है। कोई व्यक्ति चाहे किसी भी धर्म या संस्कृति से सम्बन्धित हो, सभी लोग वैयक्तिक परिष्कार और सामाजिक संगठन को अपने नैतिक प्रतिमानों का हिस्सा मानते हैं।

स्पष्ट है कि अनेक विविधताओं के बाद भी भारतीय समाज की मूल आत्मा एक है। समय–समय पर इन विविधताओं के कारण कुछ समस्याएँ अवश्य पैदा होती रहीं लेकिन उनका रूप कभी भी स्थायी नहीं रहा है।

प्र017– भारत में स्त्रियों की प्रस्थिति में परिवर्तन लाने वाले प्रमुख कारणों को सविस्तार समझाइये?

उत्तर– भारत में स्त्रियों की स्थिति में होने वाले वर्तमान परिवर्तन अनेक दशाओं का संयुक्त परिणाम हैं। इनमें से कुछ प्रमुख दशाओं को निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है:—

(1) सुधार आन्दोलनः– भारत में उन्नीसवीं शताब्दी में राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, महर्षि दयानन्द, महर्षि कर्वे, केशवचन्द्र सेन, रानाडे तथा अनेक अन्य व्यक्तियों ने स्त्रियों को शिक्षा देने तथा सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए जो सुधार आन्दोलन आरम्भ किया, उससे समाज में एक नयी जागरूकता उत्पन्न हुई। इससे फलस्वरूप बाल–विवाह, सती–प्रथा, बालिका हत्या तथा बहुपत्नी विवाह का विरोध बढ़ने लगा। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने न केवल विधवा पुरर्विवाह की आवश्यकता पर बल दिया बल्कि स्वयं भी अपने पुत्र का विवाह एक विधवा स्त्री से करके एक अकल्पनीय उदाहरण प्रस्तुत किया। बीसवीं शताब्दी में स्वतन्त्रता आन्दोलन के अन्तर्गत भी उन कुप्रथओं को दूर करने पर बल दिया गया जिनके फलस्वरूप स्त्रियाँ सामाजिक तथा आर्थिक अधिकारों से वंचित हो गयी थीं।

(2) महिला आन्दोलनः– स्त्रियों की स्थिति में सुधार का एक प्रमुख कारण स्वयं महिलाओं द्वारा चलाये जाने वाले विभिन्न आन्दोलन हैं। भारत में एनी बेसेण्ट के प्रयत्नों से सन् 1929 में एक 'अखिल भारतीय महिला सम्मेलन' का आयोजन किया गया। इसका उद्देश्य स्त्रियों को उनके सभी अधिकार दिलाना, शोषण के विरूद्ध उनकी रक्षा करना तथा स्त्री–शिक्षा में वृद्धि करना था। इसके फलस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों में स्त्रियों ने अपने अधिकार प्राप्त करने के लिए अनेक आन्दोलन किये। आज भी नगरों में महिलाओं के

अपने संगठन हैं जो नारी मुक्ति आन्दोलन से जुड़े हुए हैं। इन संगठनों ने दहेज के फलस्वरूप होने वाली हत्याओं, स्त्री–शोषण, बलात्कार तथा नारी अपमान के विभिन्न रूपों के विरूद्ध प्रदर्शन और हड़तालें करके पुरूषों की निरंकुशता को कम करने में बड़ा योगदान किया है। आज महिला Contd'mu→

आन्दोलनों का ही परिणाम है कि स्त्रियों को उनके अधिकारों से वंचित करना अथवा किसी रूप में उनका शोषण करना पहले की तरह सफल नहीं रहा।

(3) संवैधानिक अधिकारः– स्वतन्त्रता के बाद भारतीय संविधान तथा विभिन्न कानूनों के द्वारा स्त्रियों को पुरूषों के समान अधिकार मिलने से भी उनकी स्थिति में परिवर्तन हुआ। आज कानून के द्वारा बाल–विवाह को समाप्त कर दिया गया, स्त्रियों को विवाह–विच्छेद का अधिकार दिया गया, विधवा पुनर्विवाह को मान्यता दे दी गयी, स्त्रियों को परिवार की सम्पत्ति में पुरूषों के समान अधिकार दिये गय, स्त्रियों और कन्याओं के अनैतिक व्यापार पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया, दहेज पर कानूनी प्रतिबन्ध लगा दिये गये तथा उन व्यक्तियों के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की गयी जो दहेज की माँग को लेकर स्त्रियों का उत्पीड़न करते हैं। स्त्रियों की दशा को सुधारने तथा एक नये सामाजिक पर्यावरण का निर्माण करने में इन सभी कानूनों की एक महत्वपूर्ण भूमिका है।

(4) शिक्षा का प्रसारः– स्त्रियों की स्थिति तथा शिक्षा के बीच एक प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। भारत में वैदिक काल से लेकर ब्रिटिश काल तक जैसे–जैसे स्त्रियाँ शिक्षा से वंचित होती गयीं, उनकी सामाजिक स्थिति भी गिरती गयी। आज पुनः ग्रामीण तथा नगरीय क्षेत्रों में लड़कियों और स्त्रियों के लिए शिक्षा की सुविधाएँ प्राप्त हैं। इसके फलस्वरूप उन्होंने उन कुरीतियों का विरोध करना आरम्भ कर दिया जिन्हें अभी तक धर्म के नाम पर प्रोत्साहन मिलता रहा था। शिक्षा के प्रसार से ही उनमें अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता बढ़ सकी।

(5) राजनीतिक सहभागिताः– ग्रामीण स्तर से लेकर विधानसभाओं तथा संसद तक में स्त्रियों की राजनीतिक सहभागिता बढ़ने से उन्हें वे अधिकार मिलने लगे जो पुरूष–प्रधान सामाजिक व्यवस्था में उन्हें पहले प्राप्त नहीं

हो सके थे। राजनीतिक सहभागिता के फलस्वरूप जैसे–जैसे सार्वजनिक जीवन में स्त्रियों का प्रवेश बढ़ने लगा, उनके सामाजिक और आर्थिक शोषण की सम्भावना भी कम होंती गयी।

(6) संयुक्त परिवारों का विघटनः– स्त्रियों की स्थिति को परिवर्तित करने में संयुक्त परिवारों का विघटन भी उपयोगी सिद्ध हुआ। संयुक्त परिवार एक ऐसी विचारधारा पर आधारित था जिसमें स्त्रियों के अधिकारों का कोई महत्व नहीं था। इन परिवारों में स्त्रियों का एक मात्र कार्य बच्चों को कुरीतियों की शिक्षा देना और कर्मकाण्डों का पालन करना था। संयुक्त परिवारों का विघटन होने से जैसे–जैसे एकाकी परिवारों की संख्या बढ़ी इनमें न केवल स्त्रियों को एक सम्मानित स्थान मिलने लगा बल्कि लड़कियों की शिक्षा को भी एक प्रमुख आवश्यकता के रूप में देखा जाने लगा। ऐसे परिवारों का वातावरण अधिक स्वतन्त्र और समताकारी होने से स्त्रियों को अपने व्यक्तित्व का विकास करने के अवसर भी मिलने लगे।

(7) स्त्रियों की आर्थिक सहभागिता– हमारे समाज में स्त्री जीवन से सम्बन्धित अधिकांश समस्याएँ मध्यमवर्गीय परिवारों से ही सम्बन्धित रही थीं। एकाकी परिवारों की स्थापना से जब परिवार के सामने आर्थिक कठिनाइयाँ बढ़ी, तब बहुत सी स्त्रियों ने आर्थिक जीवन में प्रवेश करना आरम्भ कर दिया। औद्योगीकरण में वृद्धि होने से व्यवसाय तथा नौकरी के अवसरों में भी वृद्धि हुई। इस दशा ने भी स्त्रियों को एक आत्म–निर्भर आर्थिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी। आज जैसे–जैसे स्त्रियाँ विभिन्न सेवाओं और व्यवसायों में प्रवेश कर रही हैं, उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति में तेजी से सुधार हो रही है।

(8) पश्चिम मूल्यों का प्रभाव– स्त्रियों की स्थिति में होने वाला परिवर्तन एक बड़ी सीमा तक पश्चिमी संस्कृति के मूल्यों का परिणाम है। पश्चिमी संस्कृति समानता, स्वतन्त्रता तथा सामाजिक न्याय को अधिक महत्व देती

है। बाहरी जगत के सम्पर्क तथा शिक्षा के फलस्वरूप जैसे–जैसे स्त्रियों ने पश्चिमी संस्कृति मूल्यों को ग्रहण किया, वे उन असमानताकारी व्यवस्थाओं का विरोध करने लगीं जो पुरूषों को ही सभी अधिकार देने के पक्ष में थी। वर्तमान युग का नारी स्वतन्त्रतां आन्दोलन भी पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव का ही परिणाम है।

(9) नगरीकरण– नगरीकरण का सम्बन्ध एक विशेष मनोवृत्ति से है जिसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, शिक्षा, गतिशीलता तथा वैयक्तिक कुशलता को अधिक महत्व दिया जाता है। नगरीय संस्कृति जातिगत विभेदों पर आधारित न होकर सामंजस्य तथा अनुकूलन को अधिक महत्व देती है। इसके फलस्वरूप स्त्रियों ने बाल–विवाह, दहेज–प्रथा सामाजिक शोषण का विरोध करना आरम्भ कर दिया। नगरों में विधवा पुनर्विवाह, अन्तर्जातीय विवाहों तथा विवाह–विच्छेद को एक सामाजिक अपराध के रूप में नहीं देखा जाता। इसके फलस्वरूप पुरूषों की मनोवृत्ति में भी इस तरह परिवर्तन होने लगा जो स्त्रियों के सम्मान और अधिकारों के लिए अधिक उपयुक्त था।

Short Note
भारत में दुर्बल वर्ग

दुर्बल वर्ग:– भारतीय समाज की रचना में एक–दूसरे से भिन्न विशेषताओं वाले बहुत–से समुदायों का समावेश है। परिस्थितिकी के आधार पर जहाँ हमारा समाज ग्रामीण और नगरीय जैसे दो मुख्य भागों में विभाजित है, वहीं सांस्कृतिक और धार्मिक आधार पर यहाँ बहुत लम्बे समय से विभिन्न समुदायों की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थिति में काफी अन्तर रहा है। भारत की जनसंख्या का आधे से भी अधिक भाग उन वर्गों से सम्बन्धित रहा है जिन्हें दुर्बल वर्ग कहते हैं। यह दुर्बल वर्ग वे हैं जिन्हें एक सोची–विचारी योजना के अन्तर्गत उन अधिकारों से वंचित किया जाता रहा जिनका सम्बन्ध सामाजिक न्याय, सामाजिक समानता और सामाजिक एकीकरण के सिद्धान्तों से है। इन दुर्बल वर्गों में मुख्य रूप से जनजातियों, दलित वर्गों, अन्य पिछड़े वर्गों तथा स्त्रियों को सम्मिलित किया जाता है।

आज से लगभग 2000 वर्ष पहले जब पुराणों और स्मृतियों के रूप में बहुत–से नए धर्मग्रन्थों की रचना करने का काम आरम्भ हुआ तो बहुत–सी काल्पनिक कथाओं और वृत्तान्तों के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया कि ब्राह्मणों की शक्ति अलौकिक होती है, वे अपने श्राप से बड़े–बड़े राजाओं और ईश्वर को हानि पहुँचा सकते हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति का यह धार्मिक और नैतिक कर्तव्य है कि वह ब्राह्मणों की सेवा के द्वारा उन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न करें। कर्म और पुनर्जन्म के द्वारा व्यक्ति को यह विश्वास दिलाया गया कि उसकी वर्तमान सामाजिक –आर्थिक परिस्थिति तथा जीवन में मिलने वाले सभी तरह के सुख और दुःख उसी के पूर्व जन्म के कर्मों का परिणाम हैं।

पुरोहितों के कृपापात्र होने के लिए राजाओं के लिए भी यह आवश्यक हो गया कि वे हिन्दू धर्म की नयी मान्यताओं के अनुसार ही विभिन्न जातियों और वर्गों के कर्तव्यों का निर्धारण करें तथा धार्मिक विश्वासों की अवहेलना करने वाले लोगों को कठोर दण्ड दें। भारत में दुर्बल वर्गों की लगातार गिरती हुई दशा धर्म के इस बिगड़े हुए रूप का ही परिणाम है।

वे सभी लोग दुर्बल वर्ग के अन्तर्गत आते हैं जो बहुत गरीब होने के कारण आजीविका के साधन प्राप्त करने से वंचित हैं। दूसरा दृष्टिकोण यह सामने आया कि दुर्बल वर्ग का सम्बन्ध आर्थिक पिछड़ेपन से नहीं है क्योंकि आर्थिक जीवन की असफलता व्यक्ति के अपने दोषों का भी परिणाम हो सकती है। इस आधार पर दुर्बल वर्ग वे हैं जो एक विशेष सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक व्यवस्था के कारण उन अधिकारों से वंचित हैं जिनके बिना वे अपने जीवन में कोई परिवर्तन नहीं ला सकते। इसका तात्पर्य है कि दुर्बल वर्गों का सम्बन्ध गरीबी से नहीं बल्कि एक विषेष तरह की व्यवस्था के कारण शोषित लोगों से है। उदाहरण के लिए, भारत में निम्न जातियाँ एक विशेष सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था के कारण मानवोचित अधिकारों से वंचित रहने के कारण जीवन की न्यूनतम सुविधाएँ प्राप्त नहीं कर सकीं तथा अपनी छोटी से छोटी जरूरतों को पूरा करने के लिए, उन्हें उच्च जातियों की दया पर निर्भर रहना पड़ा।

इसी तरह देश के विभिन्न पिछड़े क्षेत्रों में रहने वाली जनजातियाँ प्रशासन की उपेक्षा के कारण एक अमानवीय जीवन बिताने के लिए बाध्य हो गयीं। मध्यकालीन हिन्दू धर्म के नियमों के अनुसार स्त्रियों को धार्मिक क्रियाओं में सहभाग करने, शिक्षा प्राप्त करने तथा सम्पत्ति अधिकारों से वंचित कर दिया गया। परिवार, विवाह तथा

सामाजिक क्रियाओं में उन्हें किसी भी तरह का निर्णय लेने का अधिकार नहीं दिया गया। इसी के फलस्वरूप स्त्रियों के जीवन में गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न हो गयीं। स्पष्ट है कि दुर्बल वर्ग का आधार आर्थिक पिछड़ापन नहीं बल्कि एक विशेष सामाजिक–धार्मिक व्यवस्था से उत्पन्न होने वाला शोषण है।